Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
Available online at : www.gisrrj.com
OPEN ACCESS
© 2024 GISRRJ | Volume 7 | Issue 6 | ISSN : 2582-0095

आरण्यककालीन समाज के मूल्यों का विमर्श

डॉ.बालकृष्ण प्रजापति
शोध–मार्गनिर्देशक, (प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष)
संजय गाँधी स्मृति पी.जी.महाविद्यालय, गंजबासौदा,
(मध्यप्रदेश)

गौतम आर्य
शोधच्छात्र, शासकीय हमीदिया कला एवं वाणिज्य
महाविद्यालय, भोपाल,
(मध्य प्रदेश)

Article Info
Volume 7, Issue 6
Page Number : 79-84
Publication Issue :
November-December-2024
Article History
Accepted : 10 Dec 2024
Published : 20 Dec 2024

शोधसारांश- आरण्यक कालीन समाज में व्यक्ति के जीवन लक्ष्य, पुरुषार्थचिन्तन, पारिवारिकसम्बन्धों के विश्लेषण एवं उसके आवास, भोजन, वस्त्रादि से सम्बन्धित विवेचन से तत्कालीन सामाजिक परिवेश का ज्ञान प्राप्त होता है। उपर्युक्त विश्लेषण से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाजमें लोगों को अध्यात्म एवं पुरुषार्थ सिद्धि के इतर अन्य कृत्यों हेतु समय ही नहीं मिल पाता था। आरण्यककालीन समाज में व्यक्ति पुरुषार्थ करते हुएसाधारण जीवन जीने में विश्वास रखते थे ।

मुख्यशब्द- आरण्यक, कालीन, समाज, जीवन लक्ष्य, पुरुषार्थचिन्तन।

सृष्टि के आरम्भ में परमपिता परमेश्वर ने सार्वभौमिक मानव के कल्याणार्थ वेदों का ज्ञान चार ऋषियों के अन्त: करण में दिया। वेदों के गूढ़ रहस्य को जानने के लिए ऋषियों ने ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना की। वेद एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तर्भूत रहस्यावगमन के लिए आरण्यकग्रन्थों का प्रादुर्भाव हुआ। आरण्यकग्रन्थ वेदों के एवं ब्राह्मणों के अन्दर रहस्यात्मक परा अपरा विद्याओं का स्रोत है। आरण्यक के परिचयात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि आरण्यक साहित्य में सामाजिक अध्ययन आध्यात्म की ओर अधिक उन्मुख था और इसी कारण इस काल में अत्यधिक रूप में एकाकी अथवा एकांत अध्ययन वा अध्यापन की परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ जिसके लिए तात्कालिक समाज ने शांत वा एकांत दोनों ही दृष्टि में अरण्य को श्रेष्ठ समझा। आज के इस वैज्ञानिक युग में मानव भागमभाग एवं अशान्त जीवन जी रहा है। जहाँ मानव साक्षर तो है, परन्तु शिक्षित नहीं। इन ग्रन्थों के अध्ययन से व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र का सर्वविध कल्याण होगा। समाज में वर्णव्यवस्था के कारण गुण–कर्म- स्वभावानुसार व्यक्ति अपने सामर्थ्य से जीवन जीने में सक्षम होगा। आश्रम व्यवस्था समाज सुदृढ़ बनेगा।

मनुष्य के सामाजिक विकास की यात्रा उसके व्यक्तिगत विकास से प्रारम्भ होती है, जो कि परिवार व समाज के सदस्य के रूप में उसके योगदान से अन्तत: राष्ट्र के विकास के रूप में पूर्णता को प्राप्त करती है । समाज के प्रत्येक सदस्य के व्यक्तिगत रूप से अनुशासित जीवन जीने से समाज की स्वत: ही उन्नति हो जाती है । प्रस्तुत अध्ययन में आरण्यककालीन समाज के क्रमिक विकास के रूप में व्यक्ति, परिवार और समाज का विमर्श किया जा रहा है ।

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

- **व्यक्ति** - वैदिक परम्परा में विकसित भारतीय दर्शन के अनुसार जीवमात्र को आत्मा के रूप में ब्रह्मस्वरूप माना गया है । आरण्यक ग्रन्थों में भी आत्मा के विषय में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है । ऋग्वेदसंहिता के ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय अध्याय में वर्णित एक उल्लेख में आत्मा के विषय में विस्तृत विमर्श उपलब्ध होता है–**'कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा, इति । येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति, इति.....'**।[1]

भारतीय संस्कृति में मनुष्य को सर्वदा सत्य बोलने एवं आजीवन सत्य के अनुष्ठान के महत्त्व का वर्णन किया गया है । वैदिक वाङ्मय में उल्लिखित **'सत्यमेव जयते'**और **'सत्यं वद'**जैसे अमरवाक्य व्यक्ति को हमेशा सत्य के अनुसरण की प्रेरणा देते हैं । शांखायन आरण्यक में मन्त्रद्रष्टा ऋषि सर्वदा सत्य के अनुष्ठान का संकल्प लेते हुए कहते हैं–
"ओम्ऋतंवदिष्यामि।सत्यंवदिष्यामि।तन्माम्अवतुतद्वक्तारम्अवत्ववतुमामवतुवक्तारम्।......वाङ्मेमनसिप्रतिष्ठिता।मनोमेवाचि प्रतिष्ठितम्........'॥[2]

आरण्यक ग्रन्थों के अनुसार व्यक्ति को न केवल सत्य भाषण के लाभ के साथ ही असत्य के दुष्प्रभाव को भी जानना चाहिए। ऐतरेय आरण्यक में वाणी के पञ्च विकारों का उल्लेख प्राप्त होता है। जिसके अन्तर्गत प्राणिमात्र के लिए हमेशा सत्य भाषण का निर्देश एवं अनृत् (असत्य) भाषण का निषेध किया गया है–**'स वा एष वाचः परमो विकारो यदेतन्महदुक्थं तदेतत्पञ्चविधं मितममितं स्वरः सत्यानृते इति। ....तदेतत्पुष्पं फलं वाचो यत्सत्यं स हेश्वरो यशस्वी कल्याणकीर्तिर्भवितोः पुष्पं हि फलं वाचः सत्यं वदति, इति । अथैतन्मूलं वाचो यदनृतं तद्यथा वृक्ष आविर्मूलः शुष्यति स उद्वर्तत एवमेवानृतं वदन्नाविर्मूलमात्मानं करोति स शुष्यति स उद्वर्तते तस्मादनृतं न वदेद्दयेत त्वेनेन, इति'**।[3]

व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास के लिए सर्वप्रथम उसके शारीरिक व आत्मिक रूप से विकसित होना अनिवार्य होता है ।ऐतरेय आरण्यक में स्वास्थ्य एवं आयु के विषय में निम्नलिखित उल्लेख प्राप्त होता है। जिसके अन्तर्गत आत्मा, प्राण एवं चक्षु आदि इन्द्रियों की स्वस्थता का उल्लेख करते हुए व्यक्ति के शतवर्ष की आयु तक जीने की कामना की गयी है – **'ॐ उदितः शुक्रियं दधे । तमहमात्मनि दधे। अनु मामैत्विन्द्रियम् । मयि श्रीर्मयि यशः। सर्वः सप्राणः संबलः । ....पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्'** ।[4]

- **परिवार** - परिवार समाज की सूक्ष्मतम एवं महत्वपूर्ण इकाई होती है। परिवार में ही व्यक्ति सर्वप्रथम समाज के नियमों से परिचित होकर सामाजिक जीवन जीता है। परिवार रूपी लघु समाज में व्यक्ति परिवार के अन्य सदस्यों का अनुकरण करता हुआ सामाजिक नियमों का अनुपालन करता है। परिवार के सदस्य के रूप में पति–पत्नी, माता/पिता–पुत्र/पुत्री, भाई–बहन और अन्य सम्बन्धों के प्रति उसका व्यवहार उसके पारिवारिक जीवन का निर्धारण करता है ।

शांखायन आरण्यक के चतुर्थ अध्याय में पिता और पुत्र के आत्मीय सम्बन्ध के विषय में अधोलिखित उल्लेख में कहा गया है कि पिता से ही पुत्र को प्राण, वाणी, इन्द्रियज्ञान, अन्नरस, मन, कर्म, प्रज्ञा, सुख–दुःख, आनन्द, यश, कीर्ति आदि की प्राप्ति सम्भव होती है। शांखायन आरण्यक का यह उल्लेख समाज में परिवार के सम्बन्धों के परिचय का स्पष्ट बोध कराता है–

'अथातःपितापुत्रीयंसंप्रदानमितिचाचक्षते।पितापुत्रंप्रेष्यन्नाह्वयति।........वाचंमेत्वयिदधानीतिपिता।वाचंतेमयिदधइतिपुत्रः।प्राणंमे त्वयिदधानीतिपिता।प्राणंतेमयिदधइतिपुत्रः।..........यशोब्रह्मवर्चसंकीर्तिस्त्वाजुषताम्इति'।[5]

ऐतरेय आरण्यक मेंव्यक्ति की जन्म से पूर्व की स्थिति के उल्लेख में माता–पुत्र के आत्मीय सम्बन्ध का उल्लेख है कि मां के गर्भ में शिशु आत्मभूत होकर अङ्गादि धारण करता है– **'पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतः, इति । तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्य-स्तेजः संभृतमात्मन्येवाऽऽत्मानं बिभर्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म, इति । तदस्य द्वितीयं जन्म, इति..........'**।[6]

ऐतरेय आरण्यक में पति–पत्नी के उल्लेख पूर्वक पुत्र (सन्तति) को सन्धि कहा गया है–**'अथातः प्रजापतिसंहिता, इति । जाया पूर्वरूपं पतिरुत्तररूपं पुत्रः संधिः प्रजननं संधानं सैषाऽदितिः संहिता, इति....'**।[7]

तैत्तिरीय आरण्यक के एक प्रसङ्ग में पारिवारिक सम्बन्धों के विषय में एक रोचक वर्णन उपलब्ध होता है । जिसमें पति, पत्नी, सास, ससुर, ननद, भतीजा आदि का निम्नोक्त प्रकार से उल्लेख किया गया है –

'......सुंराज्ञीश्वशुरेभवसुंराज्ञीश्वश्रुवांभव।ननान्दरिसुंराज्ञीभवसुंराज्ञीअधिदेवृषु।स्नुषाणाम्श्वशुराणांप्रजायाश्चधनस्यच।पतीनांचदेवृ णांचसजातानांविराड्भव.....॥[8]

- **समाज -** आरण्यककालीन समाज में वर्णव्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान रहा है । इस वर्णाश्रम व्यवस्था और पुरुषार्थ सिद्धि का ध्येय से मनुष्य ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी के रूप में मनुष्य का व्यक्तिगत रूप से सर्वाङ्गीण विकास करता है । गृहस्थ के रूप में पारिवरिक सदस्यों के साथ प्रेमपूर्ण व सम्मानजनक व्यवहार से प्रथमतः सामाजिक जीवन के नियमों से परिचित होता है । मनुष्य का गृहस्थ जीवन ब्रह्मचर्याश्रम के समापवर्तन संस्कार के उपरान्त आरम्भ होता था । इस प्रकार अच्छी तरह से विद्याध्ययन करके स्नातक व्यक्ति योग्य कन्या से विवाह करके गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता था । तत्कालीन समाज में विवाह के सन्दर्भ में कन्या की अनुमति भी आवश्यक मानी जाती थी । बृहदारण्यक के एक प्रसङ्ग के अनुसार श्यावाश्व के समक्ष रथवीति ने ऋषि होने पर ही कन्यादान की स्वीकृति प्रदान की थी ।[9]

आरण्यक कालीन समाज में यद्यपि सामान्यतः एक विवाह की ही परम्परा थी, किन्तु राजादि के बहु विवाह का भी प्रचलन था ।राज्य संचालन की दृष्टि से एवं कूटनीतिक परिस्थितियों के कारण राजा को एकाधिक विवाह करने पडते थे । अनेक पत्नियां होने पर भी कोई एक पत्नी ही राजा की प्रियतमा होती थी । ऐसी पत्नी को 'वावाता' कहा जाता था –**'ते देवा अब्रुवन्नियं वा इन्द्रस्य प्रिया जावा वावाता प्रासहा नामास्यामेवेछामहा इति तथेति तस्यामैछन्त सैनानब्रवीत्प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति...'** ।[10]

आरण्यक कालीन समाज में लोग ग्राम्य व नागर जीवन व्यतीत करते थे । पूर्व वैदिक काल में यद्यपि मुख्यतः ग्राम्य जीवन का ही वर्णन उपलब्ध होता है । किन्तु कलान्तर में लोग नगरों में पुर व दुर्ग का निर्माण कर जीवन व्यतीत करने लगे थे । तत्कालीन गावों में घरों की निर्माण हेतु सामान्यतः बांस एवं तृण का प्रयोग किया जाता था । इसके अतिरिक्त निर्माण सामग्री हेतु बांस, लकडी, मिट्टी, पत्थर तथा पकी हुई ईंटों का प्रयोग किया जाता था । निर्माण के आधार पर घरों की आयतन, पस्त्या, वास्तु, हर्म्य व दुरोण आदि संज्ञा दी जाती थी । तत्कालीन घरों में अग्निशाला, हविर्धान, सदस्, अतिथिशाला, पत्नी सदन आदि अनेक कक्ष निर्मित होते थे । तत्कालीन घरों में गृहपति के कुटुम्बियों के साथ ही पालतू पशुओं के निवास की व्यवस्था भी होती थी । वैदिक परम्परा के अनुरूप आरण्यक काल में भी विविध प्रकार के आसनों का उल्लेख प्राप्त होता

है । इनमें से कुछ यज्ञादि क्रिया में बैठने हेतु उपयोग में लाए जाते थे । और कुछ आसन शयनादि के लिए प्रयुक्त होते थे । शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यक में राज्याभिषेक के समय प्रयुक्त आसन्दी का उल्लेख प्राप्त होता है –**'मैत्रावरुण्या पयस्यया प्रचरति। तस्या अनिष्ट एव स्विष्टकृद्भवत्यथास्मा आसन्दीमाहरन्त्युपरिसद्यं वा एष जयति यो जयत्यन्तरिक्षसद्यं तदेनमुपर्यासीनमधस्तादिमाः प्रजा उपासते तस्मादस्मा आसन्दीमाहरन्ति सैषा खादिरी वितृणा भवति येयं वर्ध्रव्युता भरतानाम्'॥**[11]

इसके साथ ही विविध प्रकार की वस्तुओं को रखने और उपयोग करने के लिये द्रोण, कलश, स्थाली, उपल, मुसल, उलूखल, शूर्प, चषक, चमस आदि पात्रों का उल्लेख भी प्राप्त होता है । बृहदारण्यक के पञ्चम अध्याय में यज्ञ कर्म के एक प्रसङ्ग में कटोरी (कंस) और चम्मच (चमसः) का उल्लेख निम्नोक्त प्रकार से किया गया है – **'औदुम्बरे कंसे चमसे वा सर्वौषधं फलानीति संभृत्य, परिसमुह्य, परिलिख्य, अग्नुमुपसमाधाय, आव्रुत्याऽऽज्यं संस्कृत्य, पुंसा नक्षत्रेण मंथं सत्रीय जुहोति'** ।[12]

शांखायन आरण्यक के दूसरे अध्याय में भी चमस का उल्लेख किया गया है ।[13] इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय आरण्यक में देवताओं द्वारा सोमरस–पान के प्रसङ्ग में निम्नोक्त प्रकार से चमस का उल्लेख प्राप्त होता है –

'इदमग्ने चमसं मा विजीह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम् ।
एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन्देवा अमृता मादयन्ताम्' ॥[14]

आरण्यक काल में मनुष्य साधारण एवं सात्विक जीवन जीता था । उसके साधारण रहन–सहन के साथ ही भोजन भी सात्विक पदार्थ से निर्मित होता था । भोजन में जौ के आटे की रोटी एवं चावल का उपयोग मूंग, उडद आदि दालों के साथ किया जाता था । कहीं कहीं गोधूम चूर्ण (गेंहूं के आटे) के प्रयोग का भी उल्लेख है । कृषि के साथ ही पशुपालन की अधिकता से दूध और दूध से निर्मित अन्य पदार्थों की प्रचुरता होती थी । इसके अतिरिक्त जङ्गलों से प्राप्त स्वादिष्ट फल एवं वनस्पतियों का भी सेवन किया जाता था । घृत एवं मधु का प्रयोग यज्ञादि में विशेष रूप से किया जाता था । पेय पदार्थ के रूप में सोमरस का प्रयोग किया जाता था । सुरापान मादकता उत्पन्न करने के कारण अनिष्तोट्पादक वस्तु के रूप में त्याज्य माने जाती थी ।

आरण्यक काल में लोग ऊन, कपास, रेशम एवं कुश से निर्मित वस्त्रों के अतिरिक्त बकरों वर हरिणों के चर्म से निर्मित अजिन नामक वस्त्र भी धारण किए जाते थे । सामान्य दैनन्दिन जीवन में सफेद एवं स्वच्छ सूती वस्त्र धारण किए जाते थे ।सोमयाग के विशेष अवसर पर यजमान को सपत्नीक अधोवस्त्र के ऊपर कुश निर्मित वस्त्र पहनने का वर्णन प्राप्त होता है ।वरुण के द्वारा सोने से निर्मित **द्रापि** पहनने का उल्लेख प्राप्त होता है – **'बिभद्र द्रापिं हिरण्यमयं वरुणा'** ।[15] नववधू के वस्त्रों में वर्णित **'प्रतिधि'** कदाचित् कञ्चुकी को ही कहा गया है ।[16]पैरों की सुरक्षा के लिए 'पादत्राण' अर्थात् जूता पहनने का उल्लेख प्राप्त होता है । शतपथ ब्राह्मण में जूते को 'उपानह' कहा गया है । युद्ध के समय शत्रु पर पैरों से प्रहार करने हेतु **'पत्सङ्गिणी'** नामक जूता पहना जाता था ।

राष्ट्र-किसी भी समाज की सबसे बड़ी एवं महत्त्वपूर्ण इकाई राष्ट्र होती है । प्रत्येक समाज कुछ उद्देश्यों को आधार मानकर आगे बढ़ता है; उनकी प्राप्ति हेतु ही उस समाज के समस्त क्रियाकलाप व गतिविधियां आयोजित होती हैं, और ये उद्देश्य अन्ततः राष्ट्र के समुन्नयन हेतु ही निर्धारित होते हैं । एक राष्ट्र को राजनीतिक एवं सांस्कृतिक समुदाय के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो कि स्वायत्ततापूर्वक अपने सदस्यों के मध्य एकता का पोषण करते हुए उनके हितों का संरक्षण करता

है । यह राष्ट्र एक समुदाय विशेष के लोगों की भाषा, संस्कृति, जातीयता एवं इतिहास के संयुक्त विशेषताओं के संयोजन से गठित होता है । राष्ट्र से उसके सदस्यों की सामूहिक पहचान बनती है ।

आरण्यककालीन राष्ट्र के निवासीएक साथ रहकर सभी कार्य करके बिना किसी भेदभाव के रहने की कामना करते हैं – **'सहनाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नामवधीतमस्तु माविद्विषावहै'**।।

आरण्यक कालीन संस्कृति- विशाल वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत आरण्यक ग्रन्थों में तत्कालीन भारतीय संस्कृति यत्र तत्र उल्लिखित है । भिन्न-भिन्न वेदों से सम्बद्ध विभिन्न आरण्यकों में राजनैतिक, भौगोलिक, धार्मिक संस्कृति के साथ ही मानव के नैतिक मूल्यों से सम्बन्धित सामग्री उपलब्ध होती है । जिसके माध्यम से तात्कालिक सांस्कृतिक व्यवस्था का परिज्ञान सम्भव हो पाता है । आरण्यक कालीन राजनैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत शासन जनसमूह के कल्याण हेतु संचालित होता था । अर्थ का मुख्य आधार कृषि एवं पशुपालन होता था । आरण्यकों में उद्धृत समुद्र, नदी, पर्वत, वन, वृक्ष, वनस्पति, पशु आदि से सम्बन्धित प्रसङ्ग तत्कालीन भौगोलिक स्थिति एवं संस्कृति का परिचय प्रदान करते हैं ।

धार्मिक संस्कृति- सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के साथ ही आरण्यक ग्रन्थ भी मुख्यत: तत्कालीन धार्मिक संस्कृति के परिचायक माने जा सकते हैं । धर्म एवं अध्यात्म प्रधान प्राचीन भारतीय वैदिक संस्कृति का साङ्गोपाङ्ग वर्णन ही वैदिक वाङ्मय का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । वैदिक कालीन संस्कृति में लोगों की दैनिक जीवन पद्धति में भगवान की प्रार्थना करना मुख्य धार्मिक कृत्य के रूप में सन्निहित थी । लोग पृथ्वी, अग्नि, वायु, वर्षा और सूर्य जैसी प्राकृतिक शक्तियों की पूजा किया करते थे । सबसे प्रमुख देवता इंद्र (वज्र) थे । प्राकृतिक शक्तियों को भगवान का नाम दिया गया जो इस प्रकार हैं: पृथ्वी (पृथ्वी), अग्नि (अग्नि), वरुण (वर्षा) और वायु (वायु) और महिला देवता उषा और अदिति थीं । वहां कोई मंदिर और मूर्ति पूजा नहीं की जाती थी । उत्तरवैदिककाल में प्रार्थना पद्धति के स्वरूप में कुछ आमूलचूल परिवर्तन हुए । जैसे लोग इंद्र और अग्नि के स्थान पर प्रजापति (निर्माता), विष्णु (रक्षक) और रुद्र (संहारक) को अधिक महत्त्व प्रदान करके इनको देवस्वरूप मानकर इनकी पूजा करने लगे ।

नैतिक मूल्य -भारतीय समाज मूल्यप्रधान समाज है । भारतीय संस्कृति में मूल्यों को मनुष्य के सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक जीवन में विशेष स्थान दिया गया है; क्योंकि मूल्यों के वास्तवीकरण का नाम ही संस्कृति है । वर्तमान समय में विज्ञान ने जहाँ मनुष्य को भौतिक सुविधाएँ उपलब्ध कराने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में अविष्कारों के ढेर लगा दिए हैं । वहां उसके जीवन में एक खोखलापन भी उत्त्पन्न कर दिया है । ऐसे में समाज, देश और अपने स्वयं के जीवन में उसने मानव मूल्यों को तिलांजली दे दी है । मानव जीवन की सार्थकता तभी है जब वह श्रेष्ठ भावनाएं रखे।

आरण्यक साहित्य में नैतिकता केप्रमुख गुणों में**सत्यवादिता**को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है ।तत्कालीन सामाजिक संस्कृति में असत्यभाषण को हीन कर्म के रूप में लिया जाता था ।सत्य के पथ पर चलते हुए व्यक्ति यदि कभी कोई कष्ट सहन भी करना पड़े, तो भी उसेस्वीकार किया जाता था ।तैत्तिरीय आरण्यक में व्यक्ति के लिए को सत्यभाषण के निर्देश निम्नोक्त प्रसङ्ग मिलता है –**'ऋतंचस्वाध्यायप्रवचनेच।सत्यंचस्वाध्यायप्रवचनेच'** ।

इस प्रकार आरण्यक कालीन समाज में व्यक्ति के जीवन लक्ष्य, पुरुषार्थचिन्तन, पारिवारिकसम्बन्धों के विश्लेषण एवं उसके आवास, भोजन, वस्त्रादि से सम्बन्धित विवेचन से तत्कालीन सामाजिक परिवेश का ज्ञान प्राप्त होता है । उपर्युक्त विश्लेषण से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाजमें लोगों को अध्यात्म एवं पुरुषार्थ सिद्धि के इतर अन्य कृत्यों हेतु समय ही नहीं मिल पाता था । आरण्यककालीन समाज में व्यक्ति पुरुषार्थ करते हुएसाधारण जीवन जीने में विश्वास रखते थे । वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मानवीय मूल्यों की स्थापना में व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र को दृढ़ करने हेतु महत्त्वपूर्ण निभायेगा।

साथ हि विकसित भारत के लक्ष्यों को विश्वगुरु की प्रतिष्ठा को प्राप्त करने में आरण्यककालीन संस्कृति की महत्त्वपूर्ण भूमिक होगी । समाज श्रेष्ठता की ओर अग्रसर होगा।

सन्दर्भग्रन्थ

1. ऐतरेय आरण्यक, 2.6.1.
2. शांखायन आरण्यक, 7.1.
3. ऐतरेय आरण्यक, 2.3.6
4. ऐतरेय आरण्यक, पञ्चमाध्याय, उपसंहार.
5. शांखायन आरण्यक, 4.15.
6. ऐतरेय आरण्यक, 2.5.1.
7. ऐतरेय आरण्यक, 3.1.6.
8. तैत्तिरीय आरण्यक, एकाग्निकाण्ड, 1.6.
9. बृहदारण्यक, 5.50-80
10. ऐतरेय ब्राह्मण, 12.11
11. शतपथ ब्राह्मण, 5.4.4.1.
12. बृहदारण्यक, 5.4.1.
13. शांखायन आरण्यक, 2.15
14. तैत्तिरीय आरण्यक, 6.1.
15. ऋग्वेद, 1.25.13.
16. अथर्ववेद, 14.1.8.